

हिंदी को राष्ट्र की वाणी मानते थे दादा माखनलाल जी

- धर्मन्द्र कमरिया,
छात्र, एम.जे.(तृतीय)

प्रखर पत्रकार, प्रख्यात स्वतंत्रता संग्राम सेनानी और मां हिंदी के अनन्य सेवक माखनलाल चतुर्वेदी जी जिन्हें हम 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से भी जानते हैं। वैसे वे एक प्रभावी चिंतक के रूप में ख्यात रहे हैं। भारत में हिंदी भाषा और साहित्य के विकास और हिंदी पत्रकारों के उत्थान के लिए स्वतंत्रता से पूर्व और पश्चात, झंडाबंदार बनकर खड़े रहे। उनके काव्य का कलेवर और रहस्य का प्रेम भारतीय हिंदी साहित्य के मनीषियों के लिए आज तक अबूझ पहली बनी हुई है, जिसे सुलझाने में वह सफल नहीं हो पाए हैं।

हिंदी भाषा का वह योद्धा- जो कर्मवीर जैसे पत्रों के माध्यम से अंग्रेजी सरकार की चूल्हे हिला रहा था। हिंदी भाषा के लिए ताउम्र अपनों से ही संघर्ष करता हुआ नजर आया। वे अपने भाषणों में अक्सर इसी बात का जिक्र करते रहे कि साहब हिंदी की दशा सुधारिए और हिंदी के विकास के लिए प्रयास कीजिये। उनके अनुसार पहुंच का दूसरा नाम- निर्णय है। जिस तरह निर्णय लाचार है, भाषा भी जीवन और सूझ दोनों की लाचारी है।

माखनलाल जी कहते थे- मैं भाषा को विचार मात्र का वाहक नहीं मानता। क्योंकि कोई वाहन विहिन विचार को पैदल लाकर के बताये। भाषा तो विचार के प्राण का शरीर है। बस थोड़ी शब्दकोश की टेढ़ी जरूर नजर आती है, जिसे हमें सीधा करने की जरूरत है। विचार दान के क्षेत्र में हमने लंका कांड को खड़ा कर रखा है। यहां मेरी भाषा है, तेरी भाषा है और बोलने तक हिंदी मानने वालों का दायरा इसलिए बड़ा है कि वह राष्ट्र की वाणी होने की सरलता रखती है। किंतु यहां हिंदुस्तानी का झगड़ा हो जाता है और यह झगड़ा उनके अनुसार मानव जनित यानी (कृत्रिम) है। मुझे लगता है इसमें कोई दो राय नहीं।

आखिर दो ऐसी भाषाएं जिनके क्रियापद एक हों। उन्हें कितनी शताब्दियों तक दूर रखा जा सकता है, क्या विश्व में ऐसी कोई दूसरी भाषा है? जिसके क्रियापद एक हों और वह अलग रह सकी हैं। बोली तो गढ़ने वालों की नहीं होती, बोलने वालों की होती है। तो उत्तर भारत में घूमती राष्ट्रवादी से उर्दू का तिरस्कार और दक्षिण भारत से संस्कृत का विच्छेद कदापि संभव नहीं है। वह हिंदी की तरुणाई से यह कहते हुए अपनी पीड़ा व्यक्त करते रहे हैं कि मैं आपको प्रेमचंद और जयशंकर प्रसाद की मौत सौंप रहा हूं। मैंने सुना है कि वह अपना इलाज तक नहीं करा सके।

वाणी और भाषा उस प्रतापी राजा की तरह होती है, जो दंड देने में अपने आप को भी क्षमा ना करें। यह वाणी हर देश में, हर धर्म में, हर जाति में है। ईशा का अनुवाद करके इस वाणी का नाम अमेरिका में रुजवेल्ट, इंग्लैंड में चर्चिल, रूस में लेनिन जर्मनी में हिटलर, इटली में मुसोलिनी, टर्की में मुस्तफा कमाल, चीन में चेंग काई शेक, और विश्व में ना जानें कहां-कहां क्या-क्या है। किंतु उन्हें यह सोच, यह साहित्य, यह पुरुषार्थ गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर की बोली में भी नजर नहीं आता। वे कहते हैं कि - 'भारत में उस वाणी के स्वप्नों का जागरण तो सेवाग्राम की झोपड़ी में निवास करता है।' महात्मा गांधी ने हिंदी के विस्तार को राष्ट्रभाषा का प्रश्न बना कर ले लिया। तब यह समस्या देश के ध्यान देने की समस्या बनी, यद्यपि राष्ट्रभाषा प्रांतीय भाषाओं से मिलकर ही निखरती है। क्योंकि प्रांतीय भाषाओं में हिंदी से भी अधिक कला गुरुता विद्यमान है। जो हिंदी भाषा को समृद्ध बनाने में अधिक सहायक होगी।

अगर आप, उनके चिंतन का अध्ययन करेंगे तो पाएंगे, कि दादा कभी-कभी नाराज होकर हिंदी भाषा पर खीझ निकालते थे और कहते हैं कि मुझे इस भाषा पर और अधिक कुछ नहीं कहना है, जो कुछ सरकारी और गैर सरकारी टकसालों में गढ़ी जा रही है। हिंदी 400 वर्षों से भारतीय जीवन की भाषा की सांस बन कर रही है, किंतु अब हर शब्द बदलकर कठिन बनाया जा रहा है। जिन्हें फारसी शब्दों की कठिनता थी उन्हीं के द्वारा संस्कृत के कठिन शब्दों को अनिवार्य माने जा जाने लगा है।

हमारे संस्कृत के विद्वान संस्कृत का शब्द भी ज्यों के त्यों नहीं गढ़ते। यदि बोलचाल का शब्द भाषा में रहता है तो जनजीवन उसे समझ लेता है, किंतु आप हिंदी में इतने कठिन शब्द डाल रहे हैं कि 15 वर्षों बाद यदि भाषा पर पुनर्विचार करने का समय आए (इस बात का जिक्र उन्होंने 1943 में किया) तो लोग यह कह सकें कि हिंदी नाम की तो कोई भाषा ही नहीं थी। गत 15-20 वर्षों में यह डॉ रघुवीर और उनके साथियों द्वारा गढ़ी हुई भाषा है। मेरी समझ में नहीं आता कि भिन्न-भिन्न भाषाओं के उर्दू के भी जो शब्द मराठी, गुजराती, मलयालम, तमिल, तेलुगु, उड़िया, कन्नड़ और बांग्ला भाषाओं में चल सकते हैं। कौन कहता है कि वह हिंदी में नहीं चल सकते।

हम तो उर्दू को अपनी दुश्मन मान चुके हैं, असल में हिंदी की दुश्मन उर्दू नहीं बल्कि अंग्रेजी है। क्योंकि ब्रितानी हुकूमत ने जब भारत पर राज किया तो भारत की किसी राजभाषा को राष्ट्रभाषा नहीं बनाया बल्कि, अपनी भाषा अंग्रेजी को हम पर थोप दिया। नतीजतन भारत का सारा कारोबार अंग्रेजी भाषा में चलने लगा, राष्ट्रभाषा का सिर शहरों में तो धड़ गांवों में रह गया है। जो राहु-केतु की तरह हमारा विनाश करने में लगा हुआ है। अगर सचमुच हमें मां हिंदी की सेवा करनी है और उसे राष्ट्रभाषा बनाना है तो निश्चित ही जोखिम उठाना पड़ेगा।

यह जोखिम तुलसीदास, मीरा, तथा सूरदास और रहीम को भी उठाना पड़ा है। तुलसीदास जी को तो काशी के पंडितों द्वारा यह कहकर यातनाएं दी गई कि तुमने अपनी रचना देववाणी यानि (संस्कृत) में क्यों नहीं की। तो तुलसीदास जी कहते हैं,

‘का भाका संस्कृत, प्रेम चहियत साँच
काम जो आवे कामरी, का करि सके कमाँच’

तो माखन लाल जी ने इसका सरलीकरण करते हुए कहा, ‘जवान से उतरना ही वही चाहिए, जिसे यदि युग कागज पर उतार दे तो वह अमर हो उठे’ किंतु इसी पंक्ति के आगे वे हिंदी पीढी को आगाह करते हुए कह गए,

‘आबरू ली कलम उठाने ने, लायकी जान ली जमाने ने
थी खामोशी बयाँ से अच्छी, बात खो दी जुबाँ हिलाने ने।’

अंत में उन्हीं की पंक्ति को दोहराते हुए समापन करेंगे, ‘विजयी होवे यह भाषा, यह राज।’

(प्रस्तुति: मनुज फीचर सर्विस)

नोट: मनुज फीचर सर्विस में छपे लेखों के विचार लेखक के अपने हैं। माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय का इनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है। यहां प्रकाशित सामग्री का उपयोग गैर व्यावसायिक कार्यों के लिए करने हेतु किसी अनुमति की आवश्यकता नहीं है। मनुज फीचर सर्विस का उल्लेख अवश्य करें।